सर्वश्री मजूमदार और **मदान** (Majumdar and Madan) के अनुसार, "जाति एक बन्द वर्ग है।"[1]

सर हरबर्ट रिजले (Sir Herbert Risely) ने जाति-प्रथा की परिभाषा करते हुए लिखा है, "जाति परिवारों या परिवारों के समूहों का एक संकलन होता है और इनका एक सर्वमान्य नाम होता है, ये लोग एक काल्पनिक पूर्वज या देवता से एक सर्वसामान्य वंश-परम्परा या उत्पत्ति का दावा करते हैं, एक ही परम्परागत व्यवसाय को अपनाने पर बल देते हैं और एक सजातीय समुदाय के रूप में उनके द्वारा मान्य होते हैं जो अपना मत व्यक्त करने के योग्य हैं।"

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि **जाति-प्रथा जन्म के आधार पर सामाजिक संस्तरण** (चढ़ाव-उतार) **और खण्ड-विभाजन की वह गतिशील व्यवस्था है जो खाने-पीने, विवाह, पेशे आदि के सम्बन्ध में अनेक या कुछ प्रतिबन्धों को अपने सदस्यों पर लागू करती है।**

जाति की प्रकृति : जाति-प्रथा की संरचनात्मक और संस्थात्मक विशेषताएँ

(NATURE OF CASTE : STRUCTURAL AND INSTITUTIONAL CHARACTERISTICS OF CASTE SYSTEM)

श्री केतकर (Kethar) ने जाति-प्रथा की दो प्रमुख विशेषताओं का वर्णन किया है–(1) जाति की सदस्यता केवल उन व्यक्तियों तक ही सीमित है जो उस समूह के सदस्यों की सन्तान हैं और इस प्रकार जन्म लेने वाले सभी व्यक्ति एक जाति विशेष के अन्तर्गत आते हैं; (2) किसी जाति के सदस्य एक कठोर सामाजिक नियम द्वारा समूह (जाति) के बाहर विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने से रोक दिये जाते हैं।

डॉ. **घुरिये** ने जाति-प्रथा के संरचनात्मक और संस्थात्मक दोनों पक्षों को स्पष्ट करते हुए निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है–

1. **समाज का खण्डात्मक विभाजन** (Segmenetal Division of Society)– भारतीय जाति-प्रथा ने हिन्दू समाज को विभिन्न खण्डों में विभाजित कर दिया है और खण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद, स्थान और कार्य भी निश्चित हैं। इस प्रकार खण्ड-विभाजन का तात्पर्य, **डॉ. घुरिये** के अनुसार, यह है कि "जाति-प्रथा द्वारा आबद्ध समाज में सामुदायिक भावना सीमित होती है और समग्र समुदाय के प्रति न होकर एक जाति के सदस्यों का पहले अपनी जाति के प्रति नैतिक कर्त्तव्य-बोध होता है।" वे इन नैतिक नियमों या कर्त्तव्य-बोध के द्वारा अपने पद और कार्य पर दृढ़ रहते हैं और यदि कोई इसको तोड़ता है तो उस पर जुर्माना होता है और कभी-कभी उसे जाति से निकाल दिया जाता है। इसी अर्थ में एक जाति के सदस्यों में सामुदायिक भावना सीमित होती है।

2. **संस्तरण** (Hierarchy)– जाति-प्रथा द्वारा निर्धारित विभिन्न खण्डों में ऊँच-नीच का एक संस्तरण व उतार-चढ़ाव होता है और इसमें परम्पराओं के अनुसार प्रत्येक जाति का स्थान जन्म पर आधारित होता है। इस संस्तरण में सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मणों की स्थिति होती है, इसके बाद क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का स्थान क्रमशः निम्न होता गया है। यह संस्तरण मुख्यतः जन्म पर आधारित होने के कारण बहुत कुछ स्थिर व दृढ़ है और इसी कारण साधारणतया इस संस्तरण में ऊँचे स्तर पर उठना असम्भव तो नहीं, पर कठिन अवश्य है। जैसा पहले ही कहा जा चुका है, धन, प्रतिष्ठा, सत्ता व अपरिचिता के आधार पर नीचे की जाति के सदस्य ऊपर की जाति में जा सकते हैं। वास्तव में सबसे ऊपर की स्थिति वाले ब्राह्मण तथा सबसे नीचे की स्थिति वाली अछूत जाति के बीच में जो अनेक जातियाँ हैं, जातीय संस्तरण में उनकी वास्तविक स्थिति को निश्चित करने की समस्या गम्भीर है। प्रायः ये जातियाँ किसी-न-किसी ऊँची जाति से अपना सम्बन्ध जोड़कर अपनी सामाजिक स्थिति को बताती हैं। सामाजिक दृष्टिकोण से ऐसा करना उनके लिए लाभदायक भी है क्योंकि अपने से ऊँची जाति से सम्बन्ध जोड़कर अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने में सफल होने पर उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी उसी अनुपात में बढ़ जाती है। सामाजिक मर्यादा या प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाने के लिए मनुष्य जो-जो प्रयत्न करता है, उनमें से उपर्युक्त प्रयत्न भी एक है। अतः जातीय संस्तरण में विभिन्न जातियों की स्थिति वास्तव में अस्थिर कही जा सकती है, पर इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि ब्राह्मणों और अछूतों की स्थिति जातीय संस्तरण में बहुत कुछ स्थिर है क्योंकि ब्राह्मणों का, जो सबसे ऊँचे स्तर पर हैं, और ऊपर जाना या अछूतों का, जो सबसे नीचे की स्थिति पर हैं, और नीचे जाना सम्भव नहीं है परन्तु जैसा पहले बताया जा चुका है, इन दो छोरों के बीच में जो असंख्य जातियाँ हैं, वे अपने को अपनी पास वाली जातियों से अधिक श्रेष्ठ समझने लगती हैं।

1. ...dar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*,